
THE
OPEN
DOOR

भाग दो

दहलीज़ 3

खुला दरवाज़ा

कई सालों तक मैं मानता रहा कि ताक़त नियंत्रण में है।

शब्दों पर नियंत्रण।

भावनाओं पर नियंत्रण।

प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण।

दर्द पर नियंत्रण।

यह एक ऐसा विचार था जिसे मैंने धीरे-धीरे आत्मसात किया था, जैसा सभी गहरी मान्यताओं के साथ होता है।

किसी ने मुझे यह खुलकर नहीं सिखाया था।

किसी ने मुझसे नहीं कहा था:

“मर्द को रोना नहीं चाहिए।”

फिर भी यह संदेश हर जगह था।

बातचीत में।

व्यवहार में।

उदाहरणों में।

नज़रों में।

ख़ुद संस्कृति में।

इसलिए मैंने जल्दी एक सरल नियम सीख लिया।

सहना।

हमेशा।

चाहे कुछ भी हो जाए।

सहना।

जवानी में मैं मानता था कि यह एक गुण है।

आज मुझे पता है कि यह सिर्फ़ एक रणनीति थी।

एक रणनीति जो कुछ क्षणों में उपयोगी थी।

बहुत से दूसरे क्षणों में ख़तरनाक।

क्योंकि जो कुछ भी बहुत लंबे समय तक रोका जाता है, वह देर-सवेर बाहर निकलने का रास्ता खोजता है।

दर्द ग़ायब नहीं होता।

डर ग़ायब नहीं होता।

उदासी ग़ायब नहीं होती।

वे रूप बदल लेते हैं।

वे छिप जाते हैं।

वे इंतज़ार करते हैं।

फिर, जब हमें सबसे कम उम्मीद होती है, वे दरवाज़ा खटखटाते हैं।

मुझे अपने जीवन का एक दौर याद है जिसमें लगता था कि हर चीज़ ताक़त माँगती है।

काम।

परिवार।

ज़िम्मेदारी।

बीमारी।

फ़ैसले।

लोग जो मुझ पर भरोसा करते थे।

लोग जिन्हें एक जवाब चाहिए था।

लोग जो एक दिशा खोज रहे थे।

मैं ख़ुद को रुकने की इजाज़त नहीं दे सकता था।

कम से कम मैं ऐसा मानता था।

हर दिन मैं एक नया बोझ जोड़ लेता था।

हर दिन मैं उस क्षण को और आगे खिसका देता था जब मैं ख़ुद को सुनता।

और आगे।

हमेशा और आगे।

यह हैरान करने वाला है कि एक इंसान कितने लंबे समय तक अपनी भीतरी दुनिया को अनदेखा कर सकता है।

पर हमेशा के लिए नहीं।

कोई भी ऐसा हमेशा के लिए नहीं कर सकता।

एक क्षण आता है जब शरीर वह बताने लगता है जिसे कहने से आवाज़ इनकार करती है।

थकान बढ़ती है।

नींद बदल जाती है।

मन थक जाता है।

भावनाएँ ज़्यादा नाज़ुक हो जाती हैं।

और धीरे-धीरे तुम समझते हो कि तुम दुनिया से नहीं लड़ रहे।

तुम ख़ुद से लड़ रहे हो।

सच एक सरल तरीक़े से आया।

जैसे प्रामाणिक सच हमेशा आते हैं।

बिना किसी विशेष प्रभाव के।

बिना घोषणाओं के।

बिना तमाशे के।

एक दिन बोझ बहुत ज़्यादा हो गया।

और बचाव बहुत कम।

मुझे मौन याद है।

मुझे अकेलापन याद है।

मुझे वह अचानक एहसास याद है कि मुझे कोई भूमिका नहीं निभानी।

लंबे समय बाद पहली बार मैं कोई पेशेवर नहीं था।

मैं कोई पिता नहीं था।

मैं कोई पति नहीं था।

मैं कोई कार्यकारी अधिकारी नहीं था।

मैं कोई लेखक नहीं था।

मैं बस एक इंसान था।

और मैं रोया।

कोई सलीक़ेदार रुदन नहीं।

कोई नियंत्रित रुदन नहीं।

एक सच्चा रुदन।

वैसा जो बहुत दूर से आता है।

वैसा जो सालों को पार करता है।

वैसा जो अपने साथ वे चीज़ें ले आता है जिन्हें सँजोए रखने की तुम्हें याद तक नहीं थी।

जब यह हो रहा था, मुझे एक अप्रत्याशित एहसास हुआ।

कमज़ोरी का नहीं।

मुक्ति का।

जैसे कोई कमरा जो बहुत लंबे समय से बंद था, उसने आख़िरकार अपनी खिड़कियाँ खोल दी हों।

जैसे हवा फिर से बहने लगी हो।

जैसे कुछ, आख़िरकार, रोका जाना बंद हो गया हो।

तभी मैंने एक बुनियादी बात समझी।

भावनाएँ शत्रु नहीं होतीं।

वे संदेशवाहक होती हैं।

वे हमें कुछ बताने आती हैं।

उन्हें अनदेखा करने से वे मिटती नहीं।

वे सिर्फ़ और ऊँची आवाज़ में बोलने लगती हैं।

सालों तक मैं मानता रहा था कि साहस झुकने से इनकार में है।

उस क्षण मैंने समझा कि साहस अपने भीतर से गुज़र जाने देने में भी है।

दर्द को।

डर को।

उदासी को।

सच को।

लोग अक्सर भेद्यता की कल्पना एक दरार के रूप में करते हैं।

मैंने पाया कि वह एक दरवाज़ा बन सकती है।

क्योंकि जिस क्षण तुम हर चीज़ से अपना बचाव करना छोड़ देते हो, तुम आख़िरकार ख़ुद को जानना शुरू करते हो।

और ख़ुद को जानना बहुत-सी बाहरी लड़ाइयाँ जीतने से कहीं ज़्यादा कठिन है।

उस दिन से कुछ बदल गया।

मैं अचानक ज़्यादा समझदार नहीं बन गया।

मैं अचानक ज़्यादा ताक़तवर नहीं बन गया।

मैं अधिक खरा बन गया।

जो एक अलग बात है।

मैंने अलग तरह से बोलना शुरू किया।

अलग तरह से सुनना।

दूसरों को अधिक समझ के साथ देखना।

क्योंकि जिसने अपने दर्द को पार किया है, वह दूसरों के दर्द को ज़्यादा आसानी से पहचान लेता है।

वह उस पर फ़ैसला नहीं सुनाता।

वह उसे छोटा नहीं आँकता।

वह तुरंत कोई समाधान नहीं खोजता।

वह उसे पहचानता है।

और यह पहचान अपने आप में मदद का एक रूप है।

समय बीतने के साथ मैंने भेद्यता को एक नई रोशनी में देखना शुरू किया।

जिन लोगों की मैं सबसे ज़्यादा प्रशंसा करता था, वे देखने में अजेय लोग नहीं थे।

वे खरे लोग थे।

वे जो अपनी इंसानियत को तमाशा बनाए बिना दिखा सकते थे।

वे जो यह कहने से नहीं डरते थे:

“मैं अपनी पूरी कोशिश कर रहा हूँ।”

क्योंकि आख़िर में, हम सब यही करते हैं।

अपनी पूरी कोशिश।

किसी दिन यह बहुत होती है।

किसी और दिन थोड़ी।

पर यह हमेशा वही होती है जो हमारे पास है।

पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो मैं उस क्षण को हार नहीं मानता।

मैं उसे एक दहलीज़ मानता हूँ।

मेरे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण दहलीज़ों में से एक।

पहले मैं सोचता था कि ताक़त का मतलब है न रोना।

बाद में मैंने समझा कि ताक़त का मतलब है अपने आँसुओं से न डरना।

क्योंकि परिपक्वता का एक रूप है जो तभी आता है जब हम दिखावा करना छोड़ देते हैं।

जब हम दिखने की कोशिश छोड़ देते हैं।

जब हम अभिनय करना छोड़ देते हैं।

और आख़िरकार अपनी इंसानी प्रकृति को स्वीकार करते हैं।

नाज़ुक।

अपूर्ण।

अद्‌भुत रूप से अपूर्ण।

आज मुझे ठीक-ठीक दिन याद नहीं।

मुझे समय याद नहीं।

मुझे सारी परिस्थितियाँ तक याद नहीं।

मुझे बस वह याद है जो मैंने सीखा।

कि बाँटा गया दर्द हल्का होता है।

कि सच अभिमान से ज़्यादा मुक्त करता है।

कि भेद्यता गरिमा को नष्ट नहीं करती।

वह उसे पूर्ण करती है।

और सबसे बढ़कर मुझे एक वाक्य याद है जिसे तब मैं बोल नहीं पाता।

एक सरल वाक्य।

एक वाक्य जिसने बहुत कुछ बदल दिया।

मैंने रोना सीख लिया।

और उस दिन से मैंने ख़ुद को बेहतर समझना शुरू किया।